

प्रख्यात गीतकार दिनेश सिंह की रचनाधर्मिता: 'समर करते हुए!' के संदर्भ से

अवनीश सिंह चौहान

जहां न्याय की हत्या हो/अन्याय सफल हो
जहां शक्ति को अहंकार हो/सत्य विकल हो
जहां विवश सा शौर्य/झुकाये शीश सिहरता
जहां प्रबल हों असुर/और निर्बल हो भर्ता
वहां धैर्य का दुर्ग अंततः ढह जाता है
और एक मात्र उपाय युद्ध ही रह जाता है

(एक कंठ विषपायी)

दुष्यंत कुमार की उपर्युक्त पंक्तियां ऐसी स्थितियों में जहां युद्ध को अपरिहार्य मानती हैं वहीं दिनेश सिंह का गीत संग्रह 'समर करते हुए!' कलम के प्रयोग एवं बुद्धि कौशल के बल पर अदम्य साहस एवं अटूट विश्वास से लबरेज होकर युद्धरत दिखाई पड़ता है उन सभी विडम्ब्य स्थितियों एवं असंगत तत्वों से जो कि समय के सांचे में अपना आकार लेकर मानवीय पीड़ा का सबब बनी हुई हैं। लगता है कि अपनी जगह से हटतीं-टूटतीं चीजों और मानवीय चेतना एवं स्वभाव पर भारी पड़ते समय के तेज झटकों को चिन्हित कर उनका प्रतिरोध करने तथा इससे उपजे कोलाहल एवं कंदन के स्वरो को अधिकाधिक कम करने हेतु नये विकल्पों को तलाशने के लिए महासमर में जूझ रही हैं ये रचनाएं। इस प्रकार से वैश्विक फलक पर तेजी से बदलती मानवीय प्रवृत्तियों एवं आस्थाओं और सामाजिक सरोकारों के नवीन खांचों के बीच सामंजस्य बैठाने की जरूरत को महसूसतीं इन कविताओं में जहां एक ओर नये सिरे से नये बोध के साथ जीवन-जगत के विविध आयामों को रेखांकित करने की लालसा कुलबुलाती है तो वहीं आहत मानवता को राहत पहुंचाने और उसके कल्याण हेतु सार्थक प्रयास करने की मंशा भी उजागर होती है। और उदघाटित होता है कवि का वह संकल्प भी जिसमें समय की संस्कृति में उपजे विषांकुरों के प्रत्यक्ष खतरों का संकेत भी है और इन प्रतिकूल प्रविष्टियों के प्रति घृणा एवं तिरस्कार की भावना को जगाने की छटपटाहट भी। साथ ही प्रकट होता है कवि का यह सुखद पैगाम रण में बसर करते हुए 'कॉमरेड' के लिए ताकि वह बेहतर जीवन जीने हेतु भविष्य के व्यावहारिक सपने सँजो सके—

व्यूह से तो निकलना ही है
समर करते हुए
रण में बसर करते हुए।

हाथ की तलवार में
बाँधे कलम/लोहित सियाही
सियासत की चाल चलते
बुद्धि कौशल के सिपाही
जहर सा चढ़ते गढ़े जजबे
असर करते हुए
रण में बसर करते हुए।

बदल कर पाले/घिनाते सब
उधर के प्यार पर
अकीदे की आँख टिकती
जब नये सरदार पर
कसर रखकर निभाते
आबाद घर करते हुए
रण में बसर करते हुए।

धार अपनी माँजकर
बारीक करना/तार सा
निकल जाना है
सुई की नोक के उस पार सा
जिंदगी जी जाएगी
इतना सफर करते हुए
रण में बसर करते हुए।

भूमंडलीकरण के इस दौर में तकनीक के विकसित होने से जहाँ भौगोलिक दूरियाँ हम सबके कमोवेश कवरेज में आयी हैं

और एक मिली-जुली संस्कृति का उदय हुआ है वहीं अर्थलिप्सा, ऐन्द्रिय सुख एवं आपसी प्रतिस्पर्धा की भावना में भी बड़ा उछाल आया है। इन्हीं उछालों के 'ओवरफ्लो' होने से जो चैंपी बाहर आयी उससे आपसी संबंधों में टूटन-पपड़ी पड़ी जिसमें आंतरिक कुठा एवं हूक के अश्क भी हैं और बाह्य संघर्ष एवं अलगाव के बिंब भी। हालाँकि इसी में उठने वाली मानवता की लहरों ने भी दूर-दूर तक अपना सीमित प्रसार किया है जिसमें कुछ आशाएँ-प्रत्याशाएँ अब भी शेष हैं। इन्हीं के सहारे कवि कूद पड़ा है इस समर में अपने अनुभवों एवं सजग संवेदनाओं से लैस होकर प्रेम के गीत गाता हुआ—

वैश्विक फलक पर/गीत की संवेदना है अनमनी
तुम लौट जाओ/प्यार के संसार से/मायाघनी।

यह प्रेम वह व्यवहार है/जो जीत माने हार को
तलवार की भी धार पर/चलना सिखा दे यार को
हो जाए पूरी चेतना/इस पंथ की अनुगामिनी।

भौतिकता एवं पाशविकता के संयुक्त संकमण से व्यापक स्तर पर संवेदनहीनता की जो महामारी फैली है उसकी रोकथाम एवं उपचार करने के लिए प्रेम की जिस संजीवनी का प्रयोग करने की बात यह कवि करता है उससे इस कठिन समय में न केवल अन्य इंसानी असबाबों से जुड़ाव होने की पूरी उम्मीद जागती है वरन इस समर में बसर करते हुए जय-विजय की आस भी बँधती है। साथ ही इन्हीं के सहारे समय की बिषाग्नि से निःसृत नये दुःखों से पार भी पाया जा सकता है। निम्नांकित पंक्तियों में कवि की चिंता स्पष्ट झलकती है—

सिर पर/सुख के बादल छाएँ
दुःख नये तरीके से आए।

सुविधाओं की अँगनाई में
मन कितने ऊबे-ऊबे हैं
तरुणाई के ज्वालामुख,
लावे बीच हलक तक डूबे हैं

यह समय/आग का दरिया है
हम उसके माँझी कहलाए
दुःख नये तरीके से आए।

आज की पीढ़ी की मानसिकता में आये जबरदस्त बदलाव का आलम यह है कि साधन-संपन्नता के बावजूद भी उसके मन में असंतोष की गाँठें उभरती रहती हैं। जिसके चलते वह जमाने की चमक-दमक से आकर्षित होकर नित नयी महत्वाकांक्षाएँ पालने-पोसने में लगा रहता है और जब इनको पूरा करने में वह सफल नहीं हो पाता तब उसकी स्थिति बड़ी ही दयनीय हो जाती है। इतना ही नहीं, उसकी स्थिति बदतर होती जा रही है उसकी हल्की पड़ती सोच-समझ से भी। इस हल्केपन के कारण ही न तो उसके रिश्ते-संबंध, कार्य-व्यापार, चाल-ढाल, भाव भंगिमाओं आदि में टिकाऊपन देखने को मिलता है और न ही उसका हृदय अब वैसा रहा जिस से वह औरों से जुड़ सके और उनके सुख-दुख में हाथ बँटा सके—

कई रंग के फूल बने/काँटे खिल के/
नयी नस्ल के नये नमूने/बेदिल के।

फूले नये/नये मिजाज में
एक अकेले के समाज में
मेले में/अरघान मचाये हैं/पिलके।

आड़ी-तिरछी/टेढ़ी चालें
पहने नयी-नयी सब खालें
परत-दर-परत हैं/पंखुरियों के छिलके।

व्यर्थ लगे अब/फूल पुराने
हल्की खुशबू के दीवाने
मन में लहका करते थे/हर महफिल के।

इस नयी प्रजाति के पंछियों को तो सिर्फ 'रंगीनियों से प्यार' है, अपनी माटी, अपनी जड़ों से जुड़े रहने और अपनी बगिया के पुराने फूलों में अब उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रही। उनके विचार, उनके सपने मौसम के बदलते मिजाज के अनुसार ही बदल रहे हैं जिसकी व्यवहारिकता एवं उपादेयता पर कवि बड़े ही तल्ख तरीके से प्रश्न चिन्ह लगाता दिखाई पड़ता है—

इस किनारे/पंख अपने धो लिये
नये सपनों/उड़ानों में बो लिये

नये पहने/फटे वस्त्र उतारकर।

नाम बस्ती के/खुला मैदान है
जंगलों का एक नखलिस्तान है
नाचते सब/अंग-अंग उधार कर।

कवि मन बहुत साँसत में है इन नये तरीकों-सलीकों को देखकर-

1) ये तरीके/जिंदगी के/बहुत फीके।

भर रही दुर्गंध/जो वातावरण में
असलियत है छिपी जाती/आवरण में
गुम गये/इंसान में/उसके सलीके।

2) बस्तियों में हैं दहाड़ें/शोर की
गाँव में चर्चा चली/अँधेर की
बाद मरने के/हुआ प्रारंभ जीना।

ओंठ पर धर ओंठ कहते प्यार है
देह में उत्तप्त तेज बुखार है
किनारे ही डूब जाता है/सफीना।

कवि द्रवित हो उठता है जब चिंतन मनन करता है इन विषय स्थितियों पर-दोहरा व्यक्तित्व, दिशाहीनता, अंतर्द्वंद्व, स्वार्थपरता, वैचारिक घात-प्रतिघात, नकारात्मक भाव-बोध, अनुशासनहीनता, कथनी-करनी में भिन्नता, खून-खराबा, रिश्वतखोरी, अवसरपरस्ती, धोखाधड़ी, कपटपूर्ण व्यवहार एवं चरित्रहीनता जो-कि आज के मानव-जीवन को अभिशप्त कर रही हैं। कवि के हृदय से ये उद्गार छलक पड़ते हैं-

नहीं आ रही दुनिया/मुट्ठी खुली, पकड़ में
धिसता जाता जीवन/जिद की रगड़-झगड़ में।

जहर पिलातीं नदियाँ/बौराई है प्यास
लगी भूख की आग/जले घोड़े की घास
बेआवाज हुई टापें/रण की भगदड़ में।

फुलवारी के रंग/चटक कर रहे लिवास
सूतराग छेड़ता/बिनौला और कपास
गमलों की सीमाएँ/कसी हुई हैं जड़ में।

तन-मन की नूराकुशती की/हेरा-फेरी
दाँव-पेंच की नकल भर रही/प्रीति घनेरी
सिर पर सावन लदा/जेहन जागा है धड़ में।

ऐसी ऋतु में/हम-सब यों आए हैं साथ
साधे-साधे शक पर ही/पूरा विश्वास
नकाब लगाकर पहुँचे/नये वक्त के गढ़ में।

नये समीकरणों के बीच वर्तमान जीवन के गर्म को निरखने-परखने वाली उनकी गीतधर्मिता में जिन तत्वों का समावेश हुआ है वे तर्क के सीमेंट एवं यथार्थ के मौरंग से बड़ी वस्तुनिष्ठता एवं स्वाभाविक भाववोध के साथ खुद के गढ़े गये प्रतीकों-बिंबों के माध्यम से रूपायित होते हैं। इन रचनाओं में समय के सच की जितनी सहज अभिव्यक्तियाँ हैं, गहराई में उतरने पर बौद्धिक आयामों के कपाट भी उतने ही स्पष्ट रूप से खुलते चले जाते हैं-

1) अपने-अपने हैं कानून/मुक्त है प्रजा
सड़ी गली लाठी को/ भैंस ही सजा
न्यायालय सूनी कुर्सी/क्या चढ़ी विराजे!

2) दर्द दिल में/हर समय धड़का करे
हमें कुछ ऊपर उठाकर।

ओठ सच के बहुत मुखरित हो रहे
मुँह लगाये हुए/बाकी टाकियाँ
वार्ताओं मशविरों की आड़ में
झूठ का मुँहु कुचलतीं/चालाकियाँ

वैभवों के पाप/बदले पुण्य में
विभव का सागर नहाकर।

3) राज नगर की/बड़ी डगर की
चिंताएँ जैसे/अजगर की
मुँह फैलाकर लील रही हैं/
मन के मन से रिश्ते नाते।

जीवन कुछ है/जीना कुछ है
श्रम कुछ और/पसीना कुछ है
आस्थाओं के इस संकट में
हम मर मरकर भी जी जाते।

उक्त प्रकार के वतावरण परिवेश बनने बनाने में हम ही जिम्मेदार ठहरते हैं क्योंकि चाँद-तारे-सूरज 'सब कुछ तो वैसा का वैसा/केवल हम हैं बदल-बदले' और 'हम तो वैसे नहीं रहे/महुआ आमों वाले साथी'। सो अपने आप को जान-समझ कर अपेक्षित सुधार करने की प्रक्रिया से जुड़ने की पहल हमें ही करनी होगी, अन्य व्यवस्थाएँ बाद में। तभी हम सच्चे अर्थों में विश्व वग्राम के जिम्मेदार नागरिक बन पायेंगे-

हम क्या हैं/यह हम भूल गये/अरसे ना सोचा-जाना
हम वही मानते आए हैं/जो कुछ तुमने/हमको माना

किसने जाना सागर के पास/बेचने को बादल होंगे
किसने जाना/बाजारों की गुत्थी में/उनके हल होंगे
किसने जाना/ऐसी गाँवों का/कैसा है ताना-बाना।

किसने जाना/है सारी दुनिया गाँव बनी/जिसमें हम हैं
किसने जाना/अब सीढ़ी से/ऊँचाई के रिश्ते कम हैं
किसने जाना ऊँचाई की लंबाई में/चलते जाना।

किसने जाना/हम में बम में/फासला एक-दो बीते के
बम को तो केवल फटना है/है सारा काम पलीते का
किसने जाना/क्या शेष बचा/परवाना या आबोदाना।

कुल मिलाकर इस समसामयिक संकट से लोहा लेने हेतु इन गीतों में जो जीवटता, जीवन की संश्लिष्टता तथा उसके अडिग आस्था का निरूपण हुआ है, उससे कवि की साहित्यिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रतिवद्धता स्पष्ट झलकती है। इनमें मानव जीवन की प्रचलित भाषा-लय को पकड़कर बखूबी गाया गया है और अपनी रागवेशित अंतर्वस्तु के माध्यम से स्वीकार्य एवं अस्वीकार्य जीवन के तानों-बानों के पारस्परिक संबंधों को कभी सीधे सहज रूप में तो कभी वक्रता के साथ व्यंजित किया गया है। इसके साथ ही प्रदर्शित होती है मानवीय अस्मिता एवं जिजीविषा को बनाये रखने की जद्दोजहद इन्हीं अनूठी रचनाओं में अपनी संपूर्ण ताजगी एवं प्रासंगिकता के साथ। कवि के इस सार्थक सृजन से उम्मीद है कि गूँजता रहेगा उनका यह प्रेरक संदेश दशों दिशाओं में-

हम हों कि न हों
इस धरती पर
यों झुका रहेगा महाकाश
बीतते रहेंगे दिवस-मास।

जाड़े की सुबहें चेहरों पर
आँखों में सूरज की भाषा
गीतों में फूलों के मुखड़े
जीवन में पथ की परिभाषा

पाँवों में
बँधे-बँधे मरुस्थल
यात्रा में उखड़ी साँस-साँस

बीतते रहेंगे दिवस मास।

इन कविताओं की आंतरिक अन्वति साथी योद्धा आसानी से महसूस कर सकता है अपनी असल जिंदगी में एवं उसके उकेरने उभारने हेतु अद्भुत दृश्य संयोजनों में कवि की आंतरिक हूक संवेदना को कोई भी रणभूमि में। इतना ही नहीं, वर्तमान मानव कालकम में जीवन जगत् की विसंगतियों/विद्रूपताओं से हो रहे संग्रामों के बीच इस नायक के युद्ध विषयक संकल्प को दुहराने, उसमें अपनी सहभागिता सुनिश्चित करने तथा इस व्यूह से निकलने के लिए सार्थक प्रयास करने हेतु कोई भी संवेदनशील व्यक्ति आसानी से तत्पर हो जाएगा, ऐसा विश्वास बनता है।

—अवनीश सिंह चौहान
चन्दपुरा (निहाल सिंह)
जनपद—इटावा
(उ.प्र.)—206127

(समीक्षित कृति—'समर करते हुए!', रचयिता—दिनेश सिंह, प्रकाशक—मकसद, गौरा रूपई, लालूमऊ, रायबरेली, उ.प्र., प्रथम संस्करण—2003 ई०, मूल्य—रु. 100/—, पृष्ठ—120, कवि का संपर्क पता—ग्राम—गौरा रूपई, पो—लालूमऊ, जनपद—रायबरेली, उ.प्र.)